अणुव्रत या महाव्रत रूप यम व सत्रह प्रकार के संयमों से जो वृद्ध हैं, वे इस लोक में ज्ञानवृद्ध कहलाते हैं। बालों के सफेद हो जाने से कोई वृद्ध नहीं कहलाता है।[1]

वृत्तस्थ व ज्ञान वृद्ध पुरुषों की पूजा करने से अवश्य ही कल्पवृक्ष के समान उनके सदुपयोग आदि फल प्राप्त होते हैं। गौतम स्वामी श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पूजक थे क्योंकि अपने समय में भगवान् महावीर स्वामी व्रतस्थ एवं ज्ञानवृद्ध माने जाते थे। भगवतीसूत्र में वर्णन मिलता है कि जो व्रतस्थ व ज्ञानवृद्धों को यथासम्भव समाधि व सुख-शांति पहुँचाता है, ऐसे सद्गृहस्थ व सन्तसमाज को समाधि प्राप्त होती है।[2]

25. पोष्य का पोषण करना

जिनका भरण-पोषण और संरक्षण अनिवार्य है, सद्गृहस्थ को ऐसे माता-पिता, स्त्री, संतति, सगे-संबंधी, आश्रित दासी दास का यथाशक्य समुचित विधि से सम्भरण एवं संरक्षण करना चाहिए।[3] जैसे विराट सागर में बहते हुए प्राणी को द्वीप सहारा देता है, वैसे ही दु:ख के सागर में निमग्न व्यक्तियों को सद्गृहस्थ सहारा देता है। जो गृहस्थ पोष्यवर्ग का उचित पोषण करता है, उसकी गृहस्थी अच्छी तरह चलती है, परिवार के लोग सुखी रहने से स्वयं भी सुखी होता है। अत: गृहस्थों को अवश्य ही पोषक बनना चाहिए। वृद्ध माता-पिता, सदाचारिणी पत्नी और छोटे बालक, इनका सैकड़ों उपाय करके भी पालन-पोषण करना चाहिए। श्राद्धगुणविवरण[4] में भी बतलाया गया है कि हे तात! गृहस्थ धर्म में लक्ष्मी से सेवित तेरे घर में दरिद्री मित्र, सन्तानहीन बहिन, जाति का वृद्ध पुरुष तथा निर्धन बना कुलीन ये चारों निवास करें।

26. दीर्घदर्शी

दूरदर्शी का अर्थ है–हर कार्य पर दूर की सोचने वाला। सद्गृहस्थ को किसी भी कार्य के करने से पूर्व दूरदर्शी बनकर उस कार्य के प्रारम्भ से पूर्ण होने तक के

1. तप: श्रुत धृति ध्यान-विवेक यम संयमै:।
   ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यंते, न पुन: पलितांकुरै:।।
   श्राद्ध० भाग-9, पृ० 14
2. समाहि कारएणं तमेव समाहि पडिलब्भइ। भग०सू०, 7/1
3. योग०, 1/54
4. चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु, श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थ धर्मे।
   सखा दरिद्रो भगिनी व्यपत्या, जातिश्च वृद्धो विधन: कुलीन:।।
   श्राद्ध० भाग-9, पृ० 18

अर्थ-अनर्थ का विचार करके कार्य करना चाहिए।[1] सद्गृहस्थ तीक्ष्ण बुद्धि का धनी होता है। वह अपनी प्रतिभा द्वारा सूक्ष्म रहस्य को पकड़ लेता है। वह दीर्घ दर्शिता से प्रत्येक पहलू पर चिन्तन करता है। आचारांगसूत्र में साधक के लिए परिणामदंसी, आयंकदंसी व अणोमदंसी विशेषण आए हैं।[2] दूरदर्शी अपनी मेधा से काम लेता है और निर्भय होकर कार्य करता है। वह निरपेक्ष और दृढ़ी होता है।

27. विशेषज्ञ

आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि में सद्गृहस्थ को विशेषज्ञ भी होना चाहिए।[3] विशेषज्ञ वह होता है जो वस्तु-अवस्तु, कृत्य-अकृत्य स्व-पर का अन्तर जानता हो। जो विशेषज्ञ नहीं है, वह पशु से किसी भी तरह अधिक श्रेष्ठ नहीं है। श्राद्धगुणविवरण में आया है कि पक्षपात रहित होकर जो वस्तु के गुण-दोष को पहचानता है, वह ही विशेषज्ञ है और इसीलिए वह उत्तम धर्म के योग्य होता है।[4]

28. कृतज्ञ

कृतज्ञ का अर्थ है–जो दूसरों के लिए उपकार करने को जानता हो। अत: सद्गृहस्थ को कृतज्ञ होना चाहिए।[5] वह अपने ऊपर माता-पिता, गुरुजन, परिवार आदि का जो भी उपकार है, उस उपकार को विस्मृत नहीं होने देता। श्राद्धगुणविवरण में भी बतलाया है कि जगत् में दूसरों पर उपकार करने वाला कोई विरला ही होता है। मगर उपकारी के उपकार को मानने वाला तो लाखों में भी एकाध होता है। हे पंडितों! तुम उत्तम व अधम का विचार करने में क्यों तर्क-वितर्क करते हो? कारण कृतघ्न के समान दूसरा कोई अधम नहीं है और कृतज्ञ के बराबर दूसरा कोई उत्तम नहीं है।[6]

29. लोकवल्लभ

सद्गृहस्थ का लोकप्रिय होना जरूरी है।[7] प्रत्येक व्यक्ति लोकप्रिय बनना

1. योग०, 1/55 तथा दे०प्र०सा०, द्वार 239/1357
2. आ०सू०, 1/3/2
3. योग०, 1/55 तथा दे०प्र०सा०, द्वार 239/1357
4. वत्थूणं गुण दोसे लक्खेइ, अपक्खवाय भावेण।
   पाएण विसेसन्नु, उत्तम धम्मारि हो तेण।।
   श्राद्ध०, भाग-9, पृ० 30
5. योग०, 1/55
6. श्राद्ध०, भाग-9, पृ० 41
7. योग०, 1/55 तथा दे०प्र०सा०, द्वार 339/1357

चाहता है और इसलिए वह प्रयास भी करता है लोकप्रिय होने का, परन्तु लोकप्रिय वही हो सकता है–जो विनय, नम्रता, सेवा, सरलता, सहानुभूति, दया आदि गुणों से युक्त हो। अथर्ववेद में अनेक बार लोकप्रिय बनने के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं कि मुझे सज्जनों का प्रिय बनाओं, मुझे सभी का प्यारा बनाओ।[1]

30. सलज्ज

सद्गृहस्थ के लिए लज्जा का गुण परमावश्यक है।[2] निर्ल्लज्जता के अभावरूप लज्जा से जो पुरुष युक्त होता है, उसे लज्जावान, लज्जाशील या सलज्ज कहते हैं। श्राद्धगुणविवरण में कहा है कि लज्जाशील मनुष्य दूर से ही थोड़े से अकार्य को भी छोड़ देते हैं, सदाचार को आचरण में लाते हैं और स्वीकार किए गये कार्य को कभी भी नहीं छोड़ते।[3] श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है कि जो साधक आत्मा को विशुद्ध करना चाहता है, उन्हें चार विशुद्धियों का पालन करना आवश्यक है वे हैं–लज्जा, दया, संयम एवं ब्रह्मचर्य।[4]

31. दयावान

जो सद्गृहस्थ लज्जावान् होगा, उसके हृदय में दया की भावना अवश्य ही होगी, अतः सद्गृहस्थ को दयावान होना चाहिए।[5] दया का दूसरा नाम अहिंसा है और यही धर्म भी है–दया धम्मो। दशवैकालिकसूत्र में धर्म की व्याख्या करते हुए शय्यंभवाचार्य ने कहा कि अहिंसा (दया) संयम व तप से युक्त धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।[6] श्राद्धगुणविवरण में कहा है–प्राणी सुख की इच्छा करते हैं, किन्तु धर्म के बिना सुख कहाँ? और धर्म बिना दया भी कहाँ है? अर्थात् दया के बिना धर्म नहीं होता है और धर्म के बिना दया नहीं होती इसलिए उसमें रत हो जाओ। अर्थात् दया अवश्य

1. प्रियं मा कृणु देवेषु ..... प्रियं सर्वस्य पश्यतः। –अथ० 19/62/1
2. योग०, 1/50
3. लज्जालुओ अकज्जं, वज्जइ दूरेण जेण तणुअंपि।
   आढ्ढइ सयायारं, न मुयइ अङ्गीकयं कह वि।।
   श्राद्ध०, भाग-11, पृ० 13
4. दशवै०सू०, 9/1/13
5. योग०, 1/55 तथा दे०प्र०सा०, द्वार 239/1357
6. दशवै०सू०, 1/1

करनी चाहिए।[1] भगवान् महावीर ने भी दया पर अत्यधिक बल देकर चार विशुद्धि स्थानों में उसे महत्ता प्रदान की है।[2]

जो सद्गृहस्थ दया–धर्मरूपी सच्चे रत्न को धारण करते हैं, वे मानव समाज का गौरव बनते हैं। प्रत्येक सद्गृहस्थ को ऐसी दया को अपनाकर जीवन सुखी बनाना चाहिए।

32. सौम्यता

सद्गृहस्थ की प्रकृति व आकृति सौम्य होनी चाहिए।[3] जिसके हृदय में दया है, उसके मन और वाणी में सौम्यता होती है। सद्गृहस्थ के चेहरे पर शान्ति और प्रसन्नता झलकती है। क्रूर आकृति और भयंकर स्वभाव वाला व्यक्ति लोगों में उद्वेग पैदा कर देता है एवं उसका प्रभाव क्षणिक होता है जबकि सौम्य व्यक्ति से सभी आकृष्ट होते हैं, कोई भयभीत नहीं होता, बल्कि उसकी सादगी से वह प्रभावित हो जाता है।

सामयभाव जिसे समता भी कहा जाता है यह जिस प्राणी के हृदय में पाया जाता है उसका अन्तरंग समस्त प्राणियों के प्रति मैत्रीगुण से कमत्यवल खिल उठता है। उसके चहरे पर प्रसन्नता झलकती है। मुख मण्डल सदैव दमकता है अर्थात् देदीप्यमान रहता है। यही सौम्य व्यक्ति का व्यक्तित्व है।

33. परोपकार करने मे कर्मठ

सद्गृहस्थ को परोपकार के कार्य भी करने चाहिए।[4] अपने सुख दुःख की चिन्ता न कर दूसरों के सुख दुःख की चिन्ता करनी चाहिए। परोपकारी अपना बलिदान करके भी दूसरों की भलाई करना चाहता है।

जैसे कहा भी गया है– 'परोपकारार्थमिदं शरीरम्' तथार्थसूत्रकार ने भी प्राणियों का कार्य कर्तव्य परस्पर में उपकार करना ही बतलाया है–परस्परोपग्रहोजीवानाम्। (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 5 सूत्र-21)

महर्षि व्यास ने 18 पुराणों का सार बतलाते हुए कहा है कि सुखी जीवन बिताने के लिए परोपकार करना चाहिए कारण की परपीड़ा से पाप बढ़ता है, जिससे दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है।[5] भर्तृहरि ने नीतिशतक में बहुत ही सुंदर बात कही है। वे कहते हैं कि कान शास्त्र सुनने से शोभा पाते हैं, कुण्डलों से नहीं, हाथों की

1. देहिनः सुखमीहंते, बिना धर्म कुतः सुखम्?।
   दया बिना कुतो धर्म, स्ततस्तस्यां रतो भवः।। श्राद्ध०, भाग-11, पृ० 17
2. लज्जा दया संयम वम्भचेरं, कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं। दशवै०, 9/1/13
3. (क) योगः, 1/55, (ख) सक्कह सुपक्खजुत्तो प्र०सा०, द्वार 239/1357
4. योग०, 1/55 (ख) परहियत्थकारी य०प्र०सा०, द्वार 239/1357
5. अष्वदश पुराणेषु, व्यासस्य वचन द्वयम्।
   परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।।
   महर्षि व्यास।

शोभा दान देने से होती हैं, कंगन पहनने से नहीं, दयालु पुरुषों का शरीर परोपकार से सुशोभित होता है, चन्दन का लेप करने से नहीं।

श्रौतं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।
विभाती कायः करुणापराणां, परोपकारैर्न तु चन्दनेन।।[1]

चाणक्यनीति में आता है कि जिन सज्जनों के हृदय में परोपकार जागता है, उनकी विपत्ति नष्ट हो जाती है और सम्पत्ति उनके कदम चूमती है।[2] इस तरह परोपकार की महिमा अचिन्त्य है।

34. षट् अन्तरंग शत्रुओं के त्याग में उद्यत

सद्गृहस्थ सदा छह अन्तरंग शत्रुओं को मिटाने में उद्यत रहता है।[3] शत्रु दो प्रकार के होते हैं–एक बाह्य और दूसरा अन्तरंग। अन्तरंग शत्रुओं से ही बाह्य शत्रु उत्पन्न होते हैं। अन्तरंग शत्रु छह हैं–काम, क्रोध, मोह, लोभ, हर्ष तथा मात्सर्य।

कुछ एक विद्वान क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के साथ राग एवं द्वेष को जोड़कर इन छह को अन्तरंग शत्रु मानते हैं जिन्हें प्राणी के द्वारा नष्ट अथवा जीत लिए जाने पर जिन अथवा अरिहन्त पद की उपलब्धि होती है।

(दे० स्याद्वादमञ्जरी, पृ० 6)

श्राद्धगुणविवरण में कहा गया है कि जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मान, हर्ष व मदरूपी षड्वर्ग का त्याग करता है, वही सुखी होता है।[4] षट् शत्रु इस प्रकार हैं–

1. काम

भोगेच्छा कामः अर्थात् भोग करने की इच्छा काम कहलाती है। योग शास्त्र में आजा है कि दूसरे की परिणीता अथवा अपरिणीता स्त्री के साथ सहवास की इच्छा करना काम है।[5] काम शूल की तरह चुभने वाला,

1. नी०श०, 71
2. परोपकरणयेषाजागर्तिहृदयेसताम्।
   नश्यन्ति विपदस्तेषासपद स्यु पदे-पदे।।
   चाण०, 17/16
3. योग०, 1/66
4. काम-क्रोधस्तया लोभो, हर्षोमानो मदस्तथा।
   षड्वर्गमुत्सृजेदेनं, तस्मिंस्त्यक्ते सुखी भवेत्।।
   श्राद्ध० भाग-12, पृ० 2
5. योग०, 1, पृ० 89

विष के समान प्राण हरण करने वाला और आशीविष के समान क्षणभर में भस्म करने वाला है।[1]

आचार्य वादीभसिंह ने क्षत्रचूड़ामणि में कहा है कि जो प्राणी विषय भोगों में नितान्त आसक्त है, उसके प्रायः सभी गुण-वैदुष्य, मनुष्यता, कुलीनता और सत्यता आदि, नष्ट हो जाते हैं[2]–

विषयासक्त चित्तानां
गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं
नाभिजात्यं न सत्यवाक्।। (10)

श्राद्धगुणविवरण में भी लिखा है कि बड़प्पन, पंडिताई, कुलीनता और विवेक, पुरुष में उसी समय तक रहते हैं, जब तक उसके अन्तःकरण में पाप रूपी कामाग्नि नहीं जलती है।[3] अतः जिसने काम पर विजय प्राप्त की है, उसने अन्तरंग शत्रु को भी जीत लिया है।

2. क्रोध

अपनी अथवा पराई हानि का सोच विचार किए बिना कोप करना क्रोध है।[4] काम अन्दर ही अन्दर जलाता है, तो क्रोध अन्दर व बाहर दोनों को जलाता है। स्थानांग सूत्र में क्रोध के 4 प्रकार बतलाए गये हैं–

आत्म प्रतिष्ठित क्रोध

अपनी भूल होने पर होने वाला क्रोध आत्म प्रतिष्ठित क्रोध है।

पर प्रतिष्ठित क्रोध

दूसरे के निमित्त से होने वाला क्रोध पर प्रतिष्ठित क्रोध है।

1. सल्लं कामा, विसं कामा, कामा आसीविसोवमा। उत्तरा०सू० 9/53
2. क्षत्रचूड़ामणि 10
3. तावन्महत्वं पाण्डित्यं, कुलीनत्वं विवेकिता।
   यावज्जवलति चितान्तत, न पापः कामपावक।।
   श्राद्ध०, भाग-12, पृ० 3.
4. योग०-1, पृ० 89

तदुभय प्रतिष्ठित क्रोध

दोनों के निमित्त से होने वाला क्रोध तदुभय प्रतिष्ठित क्रोध है।

अप्रतिष्ठित क्रोध

निमित्त के बिना उत्पन्न होने वाला क्रोध अप्रतिष्ठित क्रोध कहलाता है।[1]

आचारांग सूत्र में उल्लखित है कि क्रोध मनुष्य की आयु को नष्ट करता है। क्रोध से ही समस्त मानसिक दु:ख होते हैं। क्रोध से मनुष्य पापकर्म को बांधकर नरक में जाता है और वहाँ नाना प्रकार के दु:खों को भोगता है, यह समझकर मानव को क्रोध का त्याग करना चाहिए।[2] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि क्रोध प्रीति का नाश करता है। अत: क्रोध को शान्ति से अथवा क्षमागुण से जीता जा सकता है।[3] अपने आप पर भी क्रोध नहीं करना चाहिए।[4] श्राद्धगुणविवरण में भी कहा गया है कि विशाल बुद्धि वाले क्षमाशील मनुष्य क्रोध के वेग को जीत लेते हैं और क्रोध थोड़ी अकल वाले मनुष्य को जीत लेता है।[5] अत: क्रोध के वशीभूत नहीं होना चाहिए। जहाँ तक बन सके क्रोध को एक तो करना ही नहीं चाहिए और यदि क्रोध आता ही है तो उसे निरन्तर कम करने का अभ्यास करना चाहिए। क्षणिक क्रोध भी भव भवान्तर का कारण बन जाता है। अत: मनुष्य को इससे सदा ही दूर रहना कल्याणकर है।

3. लोभ

दान देने योग्य पुरुषों में अपने धन को दान न देना और अकारण पराया धन ग्रहण करना लोभ है।[6] लोभ के कारण व्यक्ति बड़े से बड़े दुष्कृत्य करता है। स्थानांगसूत्र में कहा गया है कि मजीठ के रंग के समान जीवन में कभी नहीं छूटने वाला यह लोभ आत्मा को अधोगति की ओर ले जाता है।[7] आचारांग सूत्र में भी मिलता है कि जो

1. स्था०सू०, 4/1/249
2. आ०सू०, 4/3/136
3. दशवै०सू०, 8/38-39
4. अप्पाणं पि न को वए। उत्तरा०सू०, 1/40
5. जितरोषरयामहाधिय:, सपदि क्रोधजितो लघुर्जन:।
   श्राद्ध०, भाग-12, पृ० 8
6. योग० 1, पृ० 89
7. स्था०सू०, 4/2

व्यक्ति लोभ करता है, वह दूसरों से वैर की अभिवृद्धि करता है।[1] उत्तराध्ययनसूत्र में लोभ की विस्तृत व्याख्या मिलती है कि ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता है,[2] इसीलिए लोभ को पाप का बाप कहा है-लोभ पाप का बाप बखाना। दशवैकालिकसूत्र में भी लोभ को संतोष से जीतने की प्रेरणा दी गई है।[3]

4. मान

मान को गर्व अथवा अहंकार इन अपर नामों से भी जाना जाता है। किसी के योग्य उपदेश को दुराग्रहवश नहीं मानना मान है।[4] मान को त्यागने वाला व्यक्ति ही उन्नति के शिखर पर आरोहरण कर सकता है। ध्यान दें कि मान के छूटने पर ही बाहुबलि स्वामी को एकमात्र ज्ञान केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। आचारांगसूत्र में भी बतलाया गया है कि अहंकार करने वाला मनुष्य महामोह से विवेकशून्य हो जाता है।[5] सूत्रकृतांगसूत्र में आता है कि प्रज्ञा मद, तप मद, गोत्र मद व आजीविका मद। इन चार प्रकार के मदों से विरहित निस्पृही भिक्षु सच्चा पंडित और पवित्रात्मा होता है।[6] उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि मान को जीवने से जीव को नम्रता की प्राप्ति होती है।[7] दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि मान विनय गुण का नाश करता है, और भी इसके करने से आन इज्जत, आदर, मान-सम्मान सब कुछ चला जाता है। अत: इस मान, अहंकार को नम्रता से अवश्य जीतना चाहिए।[8]

5. हर्ष

बिना कारण दु:ख देकर तथा जुआ, शिकार आदि अनर्थकारी कार्यों में आनन्द मानना हर्ष कहलाता है।[9] यह हर्ष दुर्ध्यानयुक्त हृदय वाले अधम पुरुषों के लिये ही

1. करेइ लोह वेर वड्ढइ अप्पणो।
   आ०सू०, 2/5/93
2. उत्तरा०सू०, 8/17
3. दशवै०सू०, 8/39
4. योग० 1, पृ० 89
5. उन्नयमाणे य नरे, महामोहे पमुज्झई।।
   आ०, 5/4/1
6. सूत्र०सू०, 1/13/15
7. माणविजएणं मद्दवं जणयइ।।
   उत्तरा०, 21/68
8. दशवै०, 8/38-39
9. योग० 1, पृ० 89

सुलभ होता है। श्राद्धगुणविवरण में कहा है कि पापादि की कुछ परवाह न रखने वाला तथा पश्चाताप न करने वाला निदर्य पुरुष दूसरों के कष्ट का अच्छा समझता है एवं रौद्र ध्यान चित्त वाला मनुष्य पाप करके खुश होता है[1] और अपने को आनन्दमग्न समझता है।

6. मत्सर

किसी की उन्नति देखकर कुढ़ना, उससे डाह करना मत्सर अथवा मात्सर्य कहा जाता है।[2] यद्यपि मात्यर्स ईर्ष्या से भिन्न नहीं कारण कि दूसरे की अभिवृद्धि को देखकर मन में आनन्दित होना मानवीय गुण हैं किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि सत्त्व अपने को अच्छा समझता है और अपने से भिन्न को हीन जानकर उनसे जलता है, ईर्ष्या करता है वह उन्हें समुन्नत नहीं देख सकता। यही मात्सर्य है।

इस प्रकार जो सद्गृहस्थ इन षड्रिपुओं का त्याग करता है, वह गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी धर्मकार्य कर सुकीर्ति, सुख व शोभा को प्राप्त करता है। जो मनुष्य मानसिक प्रवृतियों से बचता है, वह सब जगह प्रतिष्ठा पाता है और इस लोक व परलोक में सुखी भी होता है।

35. इन्द्रिय समूह को वश में करने में तत्पर

सद्गृहस्थ को अपने इन्द्रिय समूह को यथोचित मात्रा में वश में करने का अभ्यास करना चाहिए।[3] व्यक्ति व गृहस्थ की समुन्नति का कारण है–इन्द्रिय संयम। साधु की भांति इन्द्रिय निग्रह तो गृहस्थ के लिए कठिन है फिर भी उन्हें स्वच्छन्द तथा विषयासक्त न होने देना मनुष्य का स्व कर्त्तव्य है।

स्पर्शादि इन्द्रियों के विकारों का जो निरोध करता है, वही गृहस्थ धर्माचरण योग्य होता है। इन्द्रियों को वश में रखकर ही मनुष्य इह लौकिक एवं पारलौकिक सुखों को प्राप्त करता है। श्राद्धगुणविवरण में भी कहा है कि नरक या स्वर्ग दोनों ये इन्द्रियाँ ही हैं, जिनको वश में करना या इन्हें स्वच्छन्द रखना स्वर्ग और नरक का

1. परवसणं अभिनदइ निरवक्खो निद्दओ निरणुतावो।
   हरिसिज्जइ कयपावो, रुद्दज्झाणोवगयचित्तो।।
   श्राद्ध०, भगा-12, पृ० 22
2. योग० 1, पृ० 89
3. योग०, 1/56

कारण हैं।[1] और फिर जितेन्द्रिय मनुष्य मन वाले मनुष्य को भी आदरणीय होते हैं और सब जगह चलित न होते हुए धर्म कार्य में भी योग्य होते हैं–

एवं जितेन्द्रियोमर्त्यो, मान्यो मानवतां भवेत्।
सर्वत्रास्खलितो धर्म, कर्मणे चापि कल्पते।।

अत: पुरुष में प्रीति रखने वाले और शुद्ध बुद्धि वाले जो मनुष्य विशेष धर्म के देने वाले उपर्युक्त श्रेष्ठ गुणसमूह को उक्त प्रकार से ग्रहण करते हैं, तो वे निश्चय ही उन्नत एवं भाग्यवान ऐश्वर्य सम्पन्न होकर सम्यक्त्व सहित निर्मल बारह व्रत स्वरूप श्रावक धर्म को पूर्ण कर मोक्ष पद पाते हैं।[2] अत: सद्गृहस्थ को मार्गानुसारी के इन 35 गुणों को अपने जीवन में अवश्य ही अपनाना चाहिए एवं व्यसन मुक्त जीवन भी व्यतीत करना चाहिए।

(ग) व्यसन

व्यसन शब्द संस्कृत का है, जो वि उपसर्ग पूर्वक अस् खादने धातु में ल्युट् प्रत्यय होने पर बनता है और जिसका तात्पर्य है–कष्ट। पाअ०सद्दमहण्णव कोस के अनुसार व्यसन शब्द वसन् से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है–खराब आदत, द्यूत, मद्यपान आदि खोटी आदत।[3] संस्कृत हिन्दी कोष में व्यसन के साथ दु उपसर्ग लगने से दुर्व्यसन शब्द बन जाता है और फिर जिसका अर्थ होता है–बुरी लत, बुरी आदत।[4] श्रावक कर्त्तव्य में मुनि सुमन ने व्यसन का अर्थ किसी पदार्थ, कर्म अथवा क्रिया में सर्वथा लीन हो जाना किया गया है, किन्तु आगे चलकर यही शब्द बुरे कर्म, पदार्थ व क्रिया अर्थ में रूढ़ हो गया।[5]

सागरधर्मामृतकार कहते हैं कि मनुष्य की जो कुटेव या बुरी आदत मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करने वाले, सम्यक् दर्शन युक्त चैतन्य को भी श्रेयस्मार्ग से भ्रष्ट कर

1. इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं, यत्स्वर्गनरकावुभौ।
   निगृहीतविसृष्टानि, स्वर्गाय नरकाय च।।
   श्राद्ध०, भाग-12, पृ० 25
2. दे० वही, पृ० 32
3. पा०स०म०, पृ० 752
4. संस्कृत-हिन्दी कोष, पृ० 988
5. (मुनि सुमन) श्रा०क०, पृ० 39

देती है, उसे व्यसन कहते हैं।[1] जैनदर्शनानुसार जीवन के लिए आवश्यक न होने पर भी जो निन्द्य कार्य ऐसी आदत रूप बन जाए जिससे कि उसके अभाव में बेचैनी मालूम होने लगे, तो वे ही दुर्व्यसन हैं।[2]

व्यसनों के प्रकार

यों तो व्यसनों की संख्या का कोई पार नहीं है। वैदिक ग्रन्थों में व्यसनों की संख्या 18 बतलाई गई है, जिनमें दस व्यसन कामज हैं और आठ व्यसन क्रोधज कहे गए हैं।[3] कामज व्यसन में–शिकार करना, जुआ खेलना, दिन में सोना, दूसरे के दोष को कहते रहना, स्त्री संभोग, मद्यमान, नाचना, गाना बजाना और बिना वजह घूमना आदि आते हैं। और चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दूसरे के गुणों में दोष लगाना, द्रव्यहरण, गाली देना और कठोर कर्कश, निरर्थक, हृदय भेदक वचन बोलना आदि। ये क्रोध से उत्पन्न होने वाले व्यसन हैं। जो क्रोधज कहे गए हैं।

जैनाचार्यों ने व्यसन के मुख्य सात प्रकार बतलाए हैं :–1. जुआ खेलना, 2. मासांहार, 3. मद्यपान, 4. वेश्यागमन, 5. शिकार, 6. चोरी, 7. परस्त्री गमन।[4]

जुआ खेलन मांस मद
वेश्या व्यसन शिकार।
चोरी पररमणी रमण
सातो व्यसन निवार।।

जबकि समणसुत्तं में परस्त्री का सहवास, द्यूत क्रीड़ा, मद्य, शिकार, वचन-परुषता, कठोर दण्ड और अर्थ दूषण (चोरी) इन सातों को व्यसन बतलाया

1. सागार०, 3/18, पृ० 35
2. (मोहनलाल मेहता) जै०द०, पृ० 177
3. मृगयाक्षादिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः।।
पैशुन्यं साहसं मोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषकम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपिगणोऽष्टकः।।
मनु०, 7/47-48
4. (क) जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि चोर परयारं।
दुग्गइ गमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि।। वसु० श्रा०, 59
(ख) लाटी, 1/113 (ग) पूज्य०श्राव०, 35
(घ) स०कौ०, 421

गया है।[1] इन सात व्यसनों में अन्य जितने भी व्यसन हैं, उन सबका अन्तर्भाव हो जाता है। अतः मूलतः सात व्यसन ही माने गये हैं।

1. द्यूत (जुआ खेलना)

द्यूत क्रीडा अर्थात् जुआ सर्वनाश का रास्ता है। परिश्रम-मेहनत या कष्ट किए बिना सिर्फ पत्तों की कलाबाजी से बुद्धि का दुरुपयोग करके पैसा पाना जुआ है।[2] कौड़ी, पासा और ताश आदि द्वारा शर्त लागकर धन ग्रहण करना द्यूत कहलाता है। इसी को आजकल की भाषा में जुआ खेलना कहते हैं। ऋग्वेद में द्यूत क्रीडा को त्याज्य बतलाया गया है। वहाँ द्यूत क्रीडा को जीवन को बर्बाद करने वाला दुर्गुण माना है।[3] जैनागम सूत्रकृतांग में भी चौपड़ या शतरंज के रूप में जुआ खेलना मना किया गया है[4] क्योंकि हारा हुआ जुआरी दुगुना खेलता है।

अमितगतिश्रावकाचार में विषाद, कलह, राग आदि को द्यूत के बान्धव बतलाया गया है तथा आगे यहाँ कहा गया है कि जुआ खेलने वाला व्यक्ति महादोष को प्राप्त होता है। इसलिए उत्तम व्यक्ति जुआ नहीं खेलते क्योंकि अग्नि की उष्णता को जानते हुए ज्ञानी जन अग्नि में कैसे प्रवेश कर सकते हैं।[5] वसुनन्दिश्रावकाचार में भी जुए को पाप का कारण बताते हुए कहा गया है कि जुआ खेलने वाले पुरुष के क्रोध, मान, माया व लोभ–ये चारों कषाय तीव्रतर होती है, जिससे जीव अधिक पाप को प्राप्त होता है।[6] सावयधम्मदोहा में आचार्य कहते हैं कि जुआ खेलने से केवल धन की ही

1. इत्थी जूय मज्जं मिगव्व वयणे तहा फरुसयाय।
दंडफरुसत्तमत्थस्स दूसणं सत्त वसणाइ।।
(क) समण०, 303
(ख) श्रा०ध०प्र०, 3/1
2. दिव्यसंदेश, पृ० 20
3. अक्षैर्मादिव्यः। ऋग्०, 10/34/13
4. अट्ठावए न सिक्खेज्जा। सूत्र०सू०, 1/9/17
(यहाँ जुए के लिए अष्टापद शब्द का प्रयोग)
5. विज्ञायेति महादोषं द्यूत दीव्यन्ति नोत्तमाः।
जनानः पावकोष्णत्वं प्रविशन्ति कथं बुधाः।।
अमित०श्राव०, 62
6. जुएं खेलंतस्स हु कोहो माया य माण लोहा य।
एए हवंति तित्वा पावइ पावं तदो बहुगं।।
वसु. श्राव. 60

हानि नहीं होती, बल्कि उनसे व्रतों का भी नाश होता है क्योंकि काठ में लगी अग्नि केवल उसे ही नहीं जलाती, बल्कि दूसरों को भी जला देती है।[1] आचार्य वसुनन्दि ने कहा है–अग्नि, विष, चोर और सर्प अल्प कष्ट देते हैं, पर जुआ हजारों-लाखों जन्मों में भी कष्ट देता है।[2] इसलिए सभी तत्त्व चिन्तकों ने जुआ व्यसन से मुक्त होने की प्रेरणा दी है।

2. मांसाहार

जैनागमों में मांसाहार के लिए 'कुणिमाहार' शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] मांस भक्षण में प्रवृति होना मांसाहार कहलाता है और मांस भक्षण में आसक्ति होना सबसे बड़ा व्यसन है। जब मांस भक्षण की प्रवृत्ति ही त्याज्य है, फिर भला आसक्ति की तो बात ही क्या?

कर्म तत्र प्रवृत्तिः स्यादासक्तिर्व्यसनं महत्।
प्रवृत्तिर्यत्र त्याज्या स्यादासक्तेस्तत्र का कथा।।[4]

महाभारतकार ने मांसाहार प्राणिजन्य होने के कारण त्याज्य बतलाया है।[5] मनुस्मृतिकार आचार्य मनु ने भी मांसाहार का निषेध किया है। उनकी मान्यता है कि जो व्यक्ति जिसका मांसाहार करता है, वही अगले जन्म में उससे खाया जायेगा। इसे ही विद्वान् 'मांसत्व' इस पद से अभिहित करते हैं।[6] इसलिए जैनदर्शन में मधु व मांस को छोड़ने पर विशेष बल दिया गया है।[7]

1. जुएं धणहु ण हाणि पर वयहं मि होइ विणासु।
   लग्गउ कट्ठण डहइ पर ड्यरहं डहइ हुयासु।।
   सावय०, 38
2. अग्नि-विस-चोर-सप्पा दुक्खं पावं कुवंति इह लोए।
   दुक्खं जणेइ जूयं णरस्स भवसयसहस्सेसु।।
   वसु०श्राव०, 65
3. स्था०सू०, 4/4/628
4. लाटी०, 1/124
5. महाभा०, (अनुशासन पर्व), 115/24
6. मांस भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहादम्यहम्।
   एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः।।
   मनु०, 5/55
7. मनु०, 6/14

स्थानांग सूत्र में मांसाहार करने वाले को नरकगामी बतलाया गया है।[1] विपाकसूत्र[2] के प्रथम श्रुतस्कन्ध में मांसाहार करने वालों का जीवन किस प्रकार कष्टमय होता है, उसका शब्द चित्र प्रस्तुत किया गया है। चाणक्यनीति में भी कहा गया है कि मांस खाने वाले की प्रवृति हिंसात्मक हो सकती है, अतः उससे इस लोक के निवासी भयभीत रहते हैं।[3] उपासकाध्ययन में पं० सोमदेव लिखते हैं कि मांस स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गन्ध से भरा है, दूसरों की जान ले लेने पर तैयार होता है और कसाई के घर जैसे दुःस्थान से प्राप्त होता है, ऐसे मांस को लोग भला कैसे खाते हैं?[4]

वसुनन्दि श्रावकाचार में भी आता है कि मांस विष्ठा के समान है, छोटे-छोटे कृमियों से भरा हुआ है, दुर्गन्ध युक्त है, बीभत्स है और पैर से भी छूने योग्य नहीं है, तो फिर भला वह मांस खाने के योग्य कैसे हो सकता है?[5]

सागरधर्मामृत में मांसाहार से द्रव्यहिंसा और भावहिंसा होती है, ऐसा बतलाते हुए पं० आशाधर लिखते हैं कि मांस के टुकड़ों में अनन्त निगोदिया जीवों की नित्य उत्पत्ति होती रहती है। वह मांस अपक्व, पच्यमान अथवा पक्व किसी भी दशा में वनस्पति की तरह प्रासुक नहीं होता, क्योंकि उसमें भी निगोदिया जीव सदैव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए अपने आप मृत प्राणी के मांस के भक्षण और स्पर्श से द्रव्यहिंसा तथा उसके भक्षण से आत्मा में क्रूरता उत्पन्न होती है, इसलिए मांस भक्षण से भाव हिंसा भी होती है।[6]

अतः मनुष्य को मांस का भोजन नहीं करना, क्यों कि इससे हिंसा का दोष अधिक लगता है। साथ ही प्रचुर पाप का अर्जन होता है। जिसका परिणाम अगले भव में विकलांग शरीर धारण करना है जैसे–आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में स्पष्ट रूप से कहा भी है कि पंगुपन, कोढ़ीपन, लूला आदि हिंसा के ही फल हैं।[7]

1. स्था०सू०, 4/4/628
2. विपाक सू०श्रुत० 1 अ०, 2
3. चाण०, 8/21
4. उपासका०गा०, 264
5. वसु०श्राव०, 85
6. हिंस्रः स्वयम्मृतस्यापि स्यादश्नन्वा स्पृशन्पलम्।
   पक्वापक्वा हि तत्पेश्यो निगोदौघसुत सदा।।
   सागार०, 2/7
7. पंगु-कुष्टि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफल सुधीः।
   निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत्।।
   योग० 2/19